क्या शिक्षा वास्तव में समाज को बदलती है?

एक केस स्टडी पर सैद्धान्तिक चिंतन

अमन मदान*

क्या शिक्षा समाज में बदलाव लाती है? यदि शिक्षा समाज में बदलाव लाती है तो इसका स्वरूप क्या है? इस बदलाव की व्याख्या कैसे की जाए? क्या जटिल सामाजिक यथार्थ में बदलाव को किसी इकहरे सिद्धान्त द्वारा समझा जा सकता है? यह लेख एक केस स्टडी के माध्यम से सामाजिक बदलाव की प्रकृति को समझने का प्रयास करता है।

शिक्षा समाज पर क्या असर डालती है, इसे लेकर समाजशास्त्री तथा नृशास्त्री हमेशा से चिंतित रहे हैं। व्यक्तियों को सीखते तथा बढ़ते देखने का संतोष मनोवैज्ञानिकों को मिल पाता है। वे गर्व से विकास के विभिन्न चरणों की ओर संकेत कर सकते हैं और कह सकते हैं कि लोग क्रमशः प्रगति कर रहे हैं। परन्तु समाजशास्त्री विद्रोह की मनःस्थिति में रहते हैं। हमें आंखों के सामने जो नजर आता है और बदलाव की जैसी परिकल्पना हम आदतन करते हैं, इन दोनों में सामंजस्य बैठाना हमें अधिक कठिन लगता है। स्कूली कक्षाओं में बच्चे जो सीखते हैं उसका हम स्वागत करते हैं, परन्तु असमानता के व्यापक ढांचों पर इस शिक्षण के किसी भी प्रकार के प्रभाव को लेकर हम निराश होते हैं। स्कूल जाने वाली बालिकाओं की संख्या में वृद्धि नजर जरूर आती है, परन्तु पितृसत्ता को पछाड़ने के विचार से यह बेहद दूर दिखाई देती है। पहले की तुलना में गरीब बच्चे कम से कम कुछ समय के लिए कक्षाओं में आते हैं, परन्तु सामाजिक असमावेशन के नए आधार भी हमें गढ़े जाते दिखाई देते हैं। क्या शिक्षा वास्तव में कोई बदलाव लाती है या वह केवल असमानता को जन्म देती है? इन प्रश्नों के उत्तर हम कैसे जान सकते हैं?

मैं हालिया सामाजिक सिद्धान्त के कुछ तरीकों को रेखांकित करना चाहता हूं, जो इन प्रश्नों से निपटने में हमारी मदद कर सकते हैं। मैं खासतौर से एन्थनी गिडेन्स तथा मार्गरेट आर्चर जैसे सिद्धान्तकारों का उल्लेख करूंगा जिनका रुझान सर्वांगी सिद्धान्तीकरण (सिस्टेमिक थियोराइजिंग) तथा व्यक्तिगत कर्तृव्य को स्वीकारने का रहा है। उनकी अवधारणाओं तथा योजनाओं की उपयोगिता या अनुपयोगिता को एक जमीनी अध्ययन के उदाहरणों से जांचा जाएगा।

आगे बढ़ने से पहले कार्य-प्रणाली संबंधी एक बिन्दु स्पष्ट करने से शायद मदद मिले। पिछले कई सालों में भारतीय अकादमिक वृत्तों में महा-वृत्तान्तों (मेटा-नैरेटिव्स्) के प्रति संदेह उभरा है। इसकी कुछ जड़ें विकास के नेहरूवादी स्वरूप के प्रति विश्वास खो देने में निहित हैं। क्योंकि विकास के इस स्वरूप में बड़ी-बड़ी परियोजनाएं, सरकारी उद्योग तथा लाइसेंस राज था। मोहभंग का यह सामान्य

* मैं कल्याणी डाइक मदान का आभारी हूं जिन्होंने इस अध्याय को संभव बनाया।

वातावरण सोवियत संघ के टूटने के बाद और मजबूत हुआ। कुछ लोग, जिन्हें कुछ असहजता के साथ उत्तर-संरचनावादी (पोस्ट-स्ट्रक्चरलिस्ट) और उत्तर-आधुनिकतावादी कहा जाता है, वे हमें अधितंत्रात्मक वृत्तान्तों (हेजेमॉनिक नैरेटिव्स) पर सवाल उठाने की भाषा उपलब्ध करवाते हैं। जैसे देरिदा (1981) ने संकेत किया था, प्रत्येक विशिष्ट अर्थ वास्तविकता के सशक्त हाथों द्वारा नहीं गढ़ा जा रहा था, वरन संकेतों की उस व्यवस्था द्वारा गढ़ा जा रहा था जिसका वह अर्थ स्वयं एक हिस्सा था। किसी भी संकेत के असली सहसंबंध को तलाशने का प्रयास वास्तव में किसी दूसरे संकेत, तब किसी अन्य संकेत तथा उसकी व्यवस्था में विकेन्द्रित हो रहा था। इससे आइनों की जो अनंत श्रृंखलाएं प्रारंभ हुई, उन्होंने मानवीय ज्ञान को तलाश पाने की आशा को ही खत्म कर दिया।

ज्ञान की रचना में संस्कृति, हितों तथा सत्ता के प्रति बढ़ी हुई चेतना ने सामाजिक जीवन के बारे में सोचने के हमारे तरीके को महत्त्वपूर्ण तरीके से बदला है। पर यही चेतना सर्वांगी सैद्धान्तीकरण में जुटने के प्रति अनिच्छा के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकती है। हमारी हिचकिचाहट का अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि हम संरचनाओं के बारे में बातचीत करना ही बंद कर दें। दुर्भाग्य से शैक्षिक प्रक्रियाओं संबंधी अनेक हालिया अध्ययनों में यही वृत्ति नजर आती है। लगता यह है कि इन अध्ययनों में शिक्षा एक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शून्य में कार्य कर रही हो। बहुत हुआ तो 'राजनीतिक इच्छाशक्ति' नामक एक अपरिभाषित वस्तु पर यह दोष मढ़ दिया जाता है कि वह अपने अस्तित्व को महसूस नहीं करवाती, जिसके फलस्वरूप शिक्षा तथा समाज में कुछ परिणाम होते हैं।

सर्वांगी प्रक्रियाओं को जांचने में बेशक सावधानी बरतना जरूरी है। फिर भी उत्तर-आधुनिकतावाद के कुछ रूपों में ज्ञानमीमांसा संबंधी जो बुनियादी सवाल उठाए जा रहे थे वे अतिशयोक्तिपूर्ण भी थे। आज अधिकाधिक लोगों को लग रहा है कि नहलाने के बाद बचे गंदे पानी के साथ बालक को भी फेंक देने की जरूरत नहीं है। अनेक व गंभीर बाधाओं के बावजूद हम एक ऐसी सत्तामीमांसा से बच नहीं सकते जो समाज में किन्हीं बाधाओं की धारणा प्रस्तुत करती है। ये धारणाएं हमारी चेतना में जो निर्मित है उससे बाहर होती है। उदाहरण के लिए, गरीबी का एक संरचनात्मक आयाम होता है और व्यवस्था में ऐसा क्या है जो गरीबी की दिशा में ले जाता है, उसे चिह्नित करना आवश्यक है। सर्वांगी सैद्धान्तीकरण से बचना गरीबी की चुनौती को समझने की हमारी क्षमता को कमजोर बनाती है। कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होता था कि नृजातीय लेखन का मुख्य उद्देश्य नृशास्त्रियों के गुप्त लक्ष्यों को उजागर करना है। हमें अब उस प्रश्न पर लौटना चाहिए कि जिस वास्तविकता को हम समझने की चेष्टा कर रहे हैं, वह दरअसल क्या है?

मार्गरेट आर्चर तथा रॉय भास्कर (आर्चर व अन्य, 1998) के साथ हम आलोचनात्मक यथार्थवाद स्थित कर सकते हैं। ऐसे यथार्थ की परिकल्पना के साथ काम किया जा सकता है, जिसे कम से कम आंशिक रूप से जाना जा सकता हो तथा जो अवलोकनकर्ता की समाज द्वारा अनुकूलित कल्पना मात्र का उत्पाद न हो। चुनौती बुनियादी रूप से एक ऐसे कर्ता को बनाने की है जो एक व्यापक तथा अधिक सामान्य समझ की क्षमता रखता हो। क्योंकि कर्ता व्यक्तिगत कर्मों एवं सामाजिक संदर्भ में अंतःक्रिया से बनता है, किसी शिक्षार्थी की अधिक गहन व वास्तविक समझ की तलाश में एक अधिक मुक्त व कम बाधाओं वाले सामाजिक संदर्भ को भी शामिल होना चाहिए। अतः एक जीवनक्षम सामाजिक विज्ञान को निश्चित रूप से आलोचनात्मक सामाजिक विज्ञान होना होगा। उसको यथास्थिति के औचित्य के प्रति अभिमुख न होकर उसे चीर-फाड़ कर यह तलाशना चाहिए कि हम एक बेहतर सामाजिक संरचना की ओर कैसे बढ़ सकते हैं।

सभी सर्वांगी सैद्धान्तीकरण को पार्सन्स तथा मार्क्स की नियतिवादी धरोहर कह धिक्कारने की वृत्ति एक ऐसी अति-प्रतिक्रिया है जिसने हमारी आलोचनात्मक संभावना को क्षीण किया है। सिद्धान्ततः अनगढ़, पर संसाधन संपन्न समूह व्यापक सामान्यीकरण करते चले जा रहे हैं। 'प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण एक

लेखक

अमन मदान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से एम.फिल. एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी में समाजशास्त्र के एसोशिएट प्रोफेसर हैं।

व्यवस्थित समाज रचेगा' या 'आर्थिक विकास के बजाए अधिक इंजीनियरिंग कॉलेजों की जरूरत है', आदि जैसे सामान्यीकरण इसके कुछ दृष्टान्त हैं। सर्वांगी सिद्धान्त से विमुख होने के कारण हम खुद में अवधारणात्मक उपकरणों तथा आनुभविक अध्ययनों का अभाव पाते हैं, जो हमारे सामने सामाजिक यथार्थ की एक वैकल्पिक समझ रख सकते हैं। ऐसे सांस्कृतिक विमर्श के प्रति आलोचनात्मक नजरिया हमें उस नव-उदारवाद को समझने में मदद कर सकता है जो एक खास किस्म के सामाजिक यथार्थ का आधार है। पर वे सैद्धान्तिक उपकरण कौन से हैं जिन्हें हम यह समझने के लिए काम में लें कि इंजीनियरिंग कॉलेज हमारे समाज पर दरअसल क्या असर डाल रहे हैं?

इस आलेख में मैं शिक्षा के बारे में एक आम सामान्यीकरण को संबोधित करना चाहता हूं कि शिक्षा समाज, संस्कृति तथा अर्थव्यवस्था में असमानता को पुनरुत्पादित करती है। एक बचकाने शैक्षिक नियतिवाद को चुनौती देने के लिए यह एक उपयोगी सैद्धान्तिक धारणा है। फिर भी मैं यह तर्क रखना चाहता हूं कि पुनरुत्पादन सिद्धान्त की शाब्दिक व्याख्या भ्रामक हो सकती है। हमें एक अधिक सटीक समझ की आवश्यकता है जिसकी अवधारणात्मक शैली अधिक बारीक अंतर करने वाली हो।

शिक्षा तथा सामाजिक संरचना

पुनरुत्पादन तथा बदलाव पर चर्चा सामाजिक ढांचे के विचार के साथ ही शुरू होनी चाहिए। जब हम एक खास बनावट को चित्रित कर लेते हैं केवल तब ही यह पूछना संभव होता है कि वह बदला है या नहीं। शिक्षा के समाजशास्त्र का एक ठेठ नजरिया रहा है यह पूछना कि सीखना सामाजिक संरचना से किस प्रकार जुड़ा हुआ है। यहां इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसके ढांचागत उपयोगितावादी अर्थ में किया गया है। दूसरे शब्दों में, इसे भूमिकाओं को पाने, समूहों के बीच संबंधों तथा विभिन्न समूहों की संस्कृतियों के संदर्भ में समझना। पार्सन्स का आलेख 'द स्कूल क्लास एज अ सोश्यल सिस्टम' (पार्सन्स 1959), इसका एक रूढ़िवादी नजरिया प्रस्तुत करता है, फिर भी पढ़ने लायक है क्योंकि पार्सन्स शिक्षा समाज में जो करती है उसके विषय में कुछ बुनियादी बातें स्पष्ट करते हैं।

इस आलेख में पार्सन्स कहते हैं कि आरंभिक स्कूल का सामाजिक ढांचा ऐसा होता है जो समाज के लिए दो बुनियादी काम करता हैः सामाजीकरण का तथा भूमिका आवंटन का। वे स्कूली कक्षा के ढांचे की चर्चा करते हैं; जिससे उनका तात्पर्य है उसमें मिलने वाली सामाजिक भूमिकाएं। तब पार्सन्स उस सामाजीकरण का वर्णन करते हैं जो उनकी समझ से कक्षा में होता है तथा यह भी कि इस सामाजीकरण का समाज में भूमिकाओं के आवंटन में क्या योगदान होता है। वे उपलब्धि को अमरीकी स्कूल को व्यवस्थित करने वाला केंद्रीय सिद्धान्त घोषित करते हैं, अतः प्रकारान्तर से अमरीकी सामाजिक प्रणाली को भी। वे यह भी स्वीकारते हैं कि परिवार, लिंग तथा पैतृक संपत्ति का भी भूमिका आवंटन में किसी प्रकार का असर होता है। पर उपलब्धि के सिद्धान्त पर इन प्रभावों के निहितार्थों को वे विकसित नहीं करते।

यहां हम पार्सन्स को पढ़ते समय आने वाली उस खास समस्या का बारंबार सामना करते हैं : एक बेहद उम्दा दिमाग जिसका रुझान अमरीकी सामाजिक जीवन की व्याख्या करते समय बेहद रूढ़िवादी हो जाहिर है कि पार्सन्स इस मसले में अमरीकी स्कूली व्यवस्था की आधिकारिक विचारधारा को ही स्वीकार रहे थे। वे यह मान रहे थे कि स्कूलों में ठीक वही होता है जो आधिकारिक विचारधारा कहती है। हालांकि पार्सन्स का यह कहना संभवतः सही था कि किसी सामन्तवादी समाज या जाति विभाजित समाज की तुलना में यहां उपलब्धि की भूमिका ही सबसे महत्त्वपूर्ण थी, फिर भी सभी उद्धृत घटकों पर लीपा-पोती करने का अर्थ था अमरीकी समाज में ढांचागत असमानता के अस्तित्व की उपेक्षा करना।

बावजूद इसके अगर हम पार्सन्स के रूढ़िवादी पक्षों के परे देखें (साथ ही उनके उपयोगितावादी कार्य-कारण विज्ञान की दिशा में फिसलने की वृत्ति के लिए उन्हें माफ कर दें) तो हम उनमें ऐसा बहुत कुछ पाएंगे जो मूल्यवान है। वे हमें उस पथ पर ले जाते हैं जहां हम यह समझ सकें कि शिक्षा समाज में क्या करती है। किसी समाजशास्त्रीय अन्वेषण

के लिए जो दिशानिर्देश पार्सन्स देते हैं, वे हैं : (क) यह पूछने से शुरुआत करो कि समाज का ढांचा क्या है- उसकी भूमिकाओं, उसके समूहों, उनके आपसी संबंधों तथा उनके मानकों के अर्थ में; (ख) यह पूछो कि उस समाज में भूमिकाएं आवंटित करने में शिक्षा किस प्रकार काम करती है - किस प्रकार का चयन हो रहा है, फिर चाहे वह कितना भी पक्षपातपूर्ण या अन्यायपूर्ण क्यों न हो; तथा (ग) यह पूछो कि शिक्षा व्यवस्था में किस प्रकार का सामाजीकरण होता है तथा भूमिकाओं के आवंटन पर उस सामाजीकरण का क्या प्रभाव पड़ता है। अगर हम पार्सन्स के शिक्षा के समाजशास्त्र का कम से कम यह भाग उपयोग में लाना सीख लें, तो हम एक अच्छी शुरुआत कर सकेंगे और तब पार्सन्स के बेहतर लेखनों (पार्सन्स 1966, 1977) की तरह हम आग्रह भी कर सकेंगे कि ये प्रक्रियाएं हमेशा समाज को एकीकृत करने की दिशा में नहीं ले जाती और हमें शिक्षा का आकलन करते समय खुलापन बरतना चाहिए।

बेशक बात यहीं खत्म नहीं होती, पर पार्सन्स उस रूपरेखा का एक उम्दा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो शिक्षा के किसी भी समाजशास्त्रीय अध्ययन में आज भी काफी महत्त्वपूर्ण है। हम संरचना को कूटों (कोड्स) तथा सिद्धान्तों के रूप में भी सारांशित कर सकते हैं, जिस दिशा में फ्रांसीसी संरचनावादी परंपरा झुकी थी। या यह कह सकते हैं कि ढांचे सत्ता द्वारा अपना रूप ग्रहण करते हैं, जैसा उत्तर-संरचनावादियों ने किया था। इसके बावजूद ढांचे को चित्रित करना और उसमें सामाजीकरण तथा भूमिका आवंटन की प्रक्रियाओं को जांचने का निर्देश बेहद मूल्यवान है।

रूपान्तरण तथा पुनरुत्पादन के बीच

आधुनिक युग के आरंभिक भारतीय जो शिक्षा पर चिंतन कर रहे थे वे सामाजिक संरचना के स्तर पर बदलाव के प्रश्न के बारे में अक्सर काफी संवेदनशील थे। वे उन चयनात्मक प्रक्रियाओं के प्रति सजग थे, जो शिक्षा द्वारा शुरू होती थी। खासतौर से शिक्षा पर सत्ता संरचनाओं के प्रभाव के प्रति। औपनिवेशिक शिक्षा के विषय में गांधी की दृष्टि में संरचनात्मक सत्ता की पैनी सजगता दिखाई देती है।[1] *नई तालीम* का विचार उन्होंने जिस प्रकार रखा उसमें भावना यह थी कि युवा वर्ग एक भिन्न प्रकार के सामाजीकरण से गुजर सकेगा। उम्मीद यह थी कि नई तालीम उन्हें ऐसे जीवन पथ तथा कामों की ओर आकर्षित करेगी जो आजादी तथा स्वावलंबन में सहायक हों। और कालान्तर में एक बिल्कुल भिन्न प्रकार के समाज की रचना हो सकेगी। ऐसा समाज जिसमें उदाहरणार्थ, सामाजिक ढांचे में गांव सबसे निचली पायदान पर न हों।

शिक्षा के प्रति गांधी का नजरिया पार्सन्स के परिप्रेक्ष्य के एक और आयाम तथा सीमा को भी उजागर करता है। पार्सन्स का परिप्रेक्ष्य मुख्यतः सामाजिक गतिशीलता पर केंद्रित था। अर्थात् समाज में विभिन्न पदों पर लोग कैसे ऊपर या नीचे या पार्श्व में बढ़ते हैं। परन्तु गांधी की रुचि कहीं अधिक क्रांतिकारी थी। उनकी इस बात में कोई रुचि नहीं थी कि ब्रिटिशों के तहत कैसे अधिकाधिक लोगों को वकील या प्रशासनिक सेवक के पदों पर बैठाया जाए। गांधी की रुचि सामाजिक व्यवस्था को रूपान्तरित करने में थी। यह रुचि एक अधिक बड़े, व्यापक तथा अधिक बुनियादी रूपान्तरण में थी, जो भारतीय शिक्षा के समाजशास्त्र के श्रेष्ठतम चिंतन को अब तक प्रभावित कर रहा है।

परन्तु जहां शैक्षणिक अभ्यास का प्रश्न आता है संरचना में रूपान्तरण का परिप्रेक्ष्य गौण बन जाता है। कृष्ण कुमार ने नई तालीम के प्रति उन वर्गों के विरोध की चर्चा की है जिनके पदों को सामाजिक व्यवस्था बदलने से खतरा होता (कुमार, 1996)। नई तालीम के स्थान पर जो चिंतन उभरा वह ऐसे बचकाने अभ्यासों को लाया जो परंपरागत स्कूलों के विस्तार को, सामाजिक तथा आर्थिक रूप से मूल्यवान कौशलों के हासिल करने को तथा इस प्रकार सामाजिक गतिशीलता हासिल करने के समान मानते हैं। हालांकि बदलाव के लिए शिक्षा का पाखंड किया जाता रहा, वह कभी भी संस्थागत यथार्थ में अनुदित नहीं हुआ। कहा जा सकता है कि नाव को झकझोरने में किसी की रुचि नहीं है।

भारतीय शिक्षा के समाजशास्त्र में 1980 तथा 1990 के दशकों के दौरान मुझे जो महत्त्वपूर्ण लेखन लगता है वह उपरोक्त रूढ़िवाद पर प्रश्न उठाने तथा उसे विश्लेषित करने को समर्पित था। उदाहरण के लिए, वेलास्कर (1990) ने उन तमाम अध्ययनों की समीक्षा की जिनमें भारतीय शिक्षा में गैर-बराबरी का वर्णन था या उसकी व्याख्या की गई

थी। हालांकि वे यह मानने को तैयार थीं कि कुछ ढांचागत बदलाव बेशक हुआ था, पर उनका निष्कर्ष इस बात पर बल देता है कि इसके बावजूद इससे असमानता ही पुनरुत्पादित हो रही थी। इसी प्रकार कुमार (1987) ने शैक्षिक प्रक्रियाओं को जांचने के बाद तल्ख टिप्पणी करते हुए कहा कि जो हो रहा है वह मुख्यतः अभिजात वर्ग का पुनरुत्पादन ही है। पुनरुत्पादन की धारणा उन दावों की निंदा करती है जो यह कहते हैं कि इस प्रकार की शिक्षा सकारात्मक बदलाव की ओर ले जाती है। मार्क्सवादी, नारीवादी, उपाश्रित तथा सामाजिक विज्ञानों की अन्य आलोचनात्मक धाराएं हमारे स्कूलों की उस सुन्दर छवि को चुनौती देने के लिए एक साथ मिलती हैं कि स्कूलों के विस्तार से हम स्वतः ही अधिक न्याय तथा कुशलक्षेम की दिशा में बढ़ेंगे। जो प्रक्रियाएं पुनरुत्पादन की दिशा में ले जाती हैं, उनमें केंद्रीय हैं स्कूली शिक्षा तक पहुंच को नियंत्रित करना तथा सीखने की सूक्ष्म अंतर्क्रिया के तहत चयन करना। चयन के मानदण्ड तथा उसकी विषयवस्तु पर हमेशा से कुछ संस्कृतियां हावी रही हैं, जिसने असमानता को कायम रखा है।

पुनरुत्पादन पर चिंतन : एक केस स्टडी

शिक्षा राष्ट्रीय वृद्धि के समान है, इस खुशनुमा छवि के समक्ष समर्पण किए बिना हमें पुनरुत्पादन की धारणा में निहित एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई पर गौर करना चाहिए। हम अपने इर्द-गिर्द बदलावों के कुछ प्रमाणों को निश्चित रूप से देखते हैं। उदाहरण के लिए, वेलास्कर (1998) ने दलितों के शैक्षिक प्रयासों का जो व्यापक ऐतिहासिक वर्णन किया है, उसमें एक जगह उन्हें यह भी प्रतीत होता लगता है कि सच में काफी फर्क पड़ा है। परन्तु उनका निष्कर्ष इसके बावजूद पुनरुत्पादन तथा असमानता का है। तो फिर ये दो विपरीत प्रतीत होने वाली प्रक्रियाएं एक-दूसरे से भला किस प्रकार जुड़ी हैं? हम इस स्थिति को सैद्धान्तिक रूप से कैसे समझें? जुड़ाव बनाने वाली प्रक्रियाओं को कुरेद कर कैसे उजागर करें ताकि दरअसल क्या हो रहा है, इसकी अधिक स्पष्ट दृष्टि गढ़ी जा सके।

हम वर्तमान में जहां हैं उससे आगे बढ़ने के कुछ उपायों पर चर्चा करने के लिए एक केस स्टडी के साथ काम करना बेहतर होगा। 1995-97 के दौरान मैंने हरियाणा के पश्चिम में स्थित फतेहाबाद नाम तहसील में जमीनी कार्य किया। हालांकि यह अध्ययन[2] एक दशक से भी ज्यादा पुराना है। वह यहां हमारी इसलिए मदद कर सकता है क्योंकि इसमें शिक्षा के संदर्भ की एक व्यापक दृष्टि अपनाने की कोशिश की गई थी। किसी समाज के पुनरुत्पादन को या उसमें भूमिकाओं के आवंटन को समझने के लिए यह जरूरी है कि हम अपने अध्ययन को केवल शैक्षिक संस्थाओं तक ही सीमित न रखें। यह जरूरी है कि भूमिकाओं व समूहों की विस्तृत संरचना तथा उनके संबंधों को भी देखें। केवल तब ही हम यह समझ सकेंगे कि शिक्षा भूमिकाओं या उन समूहों या उन समूहों की संस्कृतियों आदि पर क्या असर डाल रही है। जाहिर है कि यह बेहद, बेहद जटिल काम है। समूचे समाज में क्या हो रहा है इसकी एक सारांशित दृष्टि को विकसित करना एक बड़ा और संभवतः अप्राप्य लक्ष्य है।

मेरे अध्ययन में व्यापक संरचनाओं के साथ शिक्षा के जुड़ावों को समझने के लिए यह विचार बेहतर लगा कि हम अध्ययन को समूचे समाज की गत्यात्मकता को समझने की कोशिश के बजाय कुछ ऐसी गतिविधियों तक सीमित करें जिनका विस्तार भी सीमित हो। उस समय मैं दिल्ली के एक ऐसे समूह[3] के साथ जुड़ा था जिसकी रुचि ग्रामीण गरीबों के साथ काम करने तथा उनके लिए शिक्षा तथा रोजगार को सम्मलित करने में थी। भारत में ग्रामीण गरीबों की आयवर्धन का एक तरीका जो तत्काल सूझता है वह है दूध के उत्पादन के लिए पशुपालन का। उस समय हरियाणा के हाई स्कूलों में पशुपालन का एक वैकल्पिक पाठ्यक्रम भी उपलब्ध था। सो यह गतिविधि एक तुलनात्मक अध्ययन के लिए अच्छा अवसर लगी। मैंने दूध उत्पादन के लिए पशुपालन को समुदाय तथा स्कूल में कैसे सीखा-सिखाया जाता है तथा उन दोनों के समाजशास्त्रीय नतीजे क्या होते हैं, इसे देखने से शुरुआत की। एक अधिक समग्र छवि पाने के लिए मैंने फतेहाबाद तहसील[4] को चुना, जिसमें 86 गांव थे जो फतेहाबाद कस्बे के इर्दगिर्द थे। शोध का स्वरूप अन्वेषणात्मक था और इसमें अर्ध-सहभागी जमीनी कार्य को खुले साक्षात्कारों व अवसरवादी सैंपल (औपर्च्यूनिस्टिक सैंम्पलिंग) के साथ जोड़ा गया था। पशुपालन कर्म को सीखने और उसके अभ्यासों का अध्ययन मुख्यतः एक गांव में तथा कस्बे में किया गया और तब आठ अन्य गांवों में उसकी पुष्टि करने के लिए दौरे किए गए।

जब यह जमीनी काम किया गया उस समय फतेहाबाद तहसील में एक पीढ़ी से भी अधिक समय से हरितक्रांति की तकनीकों का उपयोग किया जा रहा था और स्थानीय समाज पर इसका प्रभाव भी काफी था। खासतौर पर फतेहाबाद का कस्बा काफी विकसित हो चुका था और अधिकतर विकास तृतीयक (टर्शियरी) क्षेत्रों में हुआ था। हालांकि यह संभव है कि सापेक्ष असमानता भी बढ़ी हो परन्तु जिस दरिद्रीकरण का भय रहता है वह नजर नहीं आया। समग्र अर्थव्यवस्था में वृद्धि हुई थी और अधिकतर लोगों की सकल सम्पत्ति में भी बढ़ोतरी हुई थी। जब समाजशास्त्रीय नजरिए से समाज में शिक्षा के स्थान को जांचा जाता है, तो सामाजिक संदर्भ में ऐसा त्वरित व ठोस बदलाव काफी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया हो सकती है। आसपास के गांवों से बड़ी संख्या में लोग कस्बे की ओर आकर्षित हुए थे और जितना व्यापार और सेवाएं उपलब्ध थीं, उनमें भारी उछाल आया था। लोगों को उपलब्ध अवसरों तथा संरचनाओं की भूमिका पर आर्थिक विकास का व्यापक प्रभाव पड़ा था।

अगर फतेहाबाद के जटिल व विभिन्न बुनावटों वाले दृश्य के केवल एक ही धागे पर ध्यान दें तो वह धागा जो पशुपालन का नजर आता है और पता यह चलता है कि पिछली दो पीढ़ियों में इस क्षेत्र में भी गंभीर बदलाव आया है। पहले पशु ही हल इत्यादि खींचने का मुख्य स्रोत होते थे, साथ ही उनसे दूध-घी आदि भी मिलता था। पहला बदलाव जो साफ नजर आया है वह यह कि बैलों की संख्या में भारी गिरावट आई है। केवल गाय-भैंस की विभिन्न किस्मों को पसंद किया जाने लगा है। अब लोगों के जीवन में घरेलू पशुओं का स्थान मुख्यतः दूध उत्पादक का ही रह गया है।

उपभोग तथा परिवार संबंधित अर्थों में दूध तथा उसके विभिन्न उत्पाद - दही, घी, मावे की मिठाइयां आदि- एक लम्बे अर्से से केंद्रीय महत्त्व के रहे हैं। ये कुशलक्षेम के, अच्छे स्वास्थ्य के, प्रेम के और परिचर्या के प्रतीक रहे हैं। परिवार तथा कुटुम्ब के सदस्यों के बीच आदान-प्रदान को दूध से बने उत्पाद-समृद्ध और विशेष अर्थ देते थे। मेहमान रिश्तेदारों के खाने में घी डालना बुनियादी शिष्टाचार था। ऐसा न करना असत्कार का संदेश देता था और गलतफहमियां पैदा कर सकता था। संपन्नता बढ़ने का एक परिणाम था दूध तथा उसके उत्पादों के उपयोग में पैनी वृद्धि। इसने उस सांकेतिक आदान-प्रदान तथा पारस्परिकता को विस्तार दिया जिसका दूध हिस्सा है। साथ ही दूध के इर्द-गिर्द व्यापारिक अर्थव्यवस्था भी विस्तृत हुई।

इस प्रकार की वृद्धि के बावजूद पशुपालन मुख्यतः ग्रामीण गतिविधि रही। कस्बे में स्वयं दूध के तो कई अर्थ थे, परन्तु दूध उत्पादन को गंदा और घटिया काम माना जाता था। यह उन समुदायों तक सीमित था जो स्थानीय प्रतिष्ठा व्यवस्था में सापेक्ष रूप से निचले स्तरों पर थे। बेशक गांवों में पशुपालन के प्रति ऐसा नजरिया नहीं था और अधिकांश परिवारों के पास एक से चार पशु हुआ करते थे। इसके बावजूद कस्बे और बाजार के साथ बढ़ता संपर्क लोगों पर यह दबाव भी डाल रहा था कि वे ग्रामीण जीवन के इस पक्ष से जुड़े कस्बाई नजरिए से कैसे निपटें।

पशु संबंधी सारे काम परिवार के ढांचे में व्यवस्थित थे। पूर्णतः व्यावसायिक डेयरियों का अस्तित्व लगभग नहीं था जिसमें मजदूरों की मदद ली जाती है। बच्चे 6-7 साल की उम्र से ही पशुओं को चारा-पानी देने और उनकी देखभाल के तौर-तरीके सीखने लगते थे और 15 साल तक पहुंचते-पहुंचते स्वतंत्र रूप से उनकी देखभाल करना सीख जाते थे। स्थानीय आबादी का बड़ा हिस्सा बागरी भाषी था जो पशुपालन को मुख्यतः औरतों का काम मानता था। पंजाबी संख्या में कम थे हालांकि उनका आर्थिक अस्तित्व विषम था। पंजाबियों और बागरी भाषी विश्नोइयों में महिलाओं की तुलना में पुरुष ही प्रत्यक्ष रूप से पशुपालन के काम करते थे। घरेलू कामकाज के विभाजन का भी शिक्षा पर असर पड़ता है, जैसा हम बाद में देखेंगे।

इस तेजी से विकसित होती अर्थ व्यवस्था में जिन भूमिकाओं में यहां विस्तार हुआ उनका संबंध दूध तथा उसके उत्पादों को बाजार तक लाने से था। हालांकि दूध तथा उसके उत्पादों के घरेलू अर्थ जारी रहे और उनमें नए-नए अर्थ भी जुड़ते गए, मातृत्व और देखभाल का यह प्रतीक क्रमशः धन के लिए व्यावसायिक गतिविधि से जुड़ता चला गया। पशुपालन तथा पशुओं की देखभाल के अभ्यासों में भी व्यावसायिक आदान-प्रदान में बढ़ोतरी के ठीक ऐसे ही रुझान

दिखाई दिए। पहले गाय घर की दुलारी पशु हुआ करती थी - बच्चे उनसे खेला करते थे और प्यार से उनके नाम रखा करते थे। पर अब भैंस पसंदीदा पशु थी - क्योंकि वह अधिक दूध देती थी जो ज्यादा कीमत पर बिकता था और जो गायों की तुलना में न तो उतनी सौम्य थी न ही उतनी घरेलू। पशुधन जब सुविचारित व्यवस्थाओं का हिस्सा बनने लगा जो मांग और आपूर्ति के तर्क पर आधारित था। बाजार, उसका तर्क, उसके एजेंट, लोगों के घर में सीधे प्रवेश का जरिया बनने लगा। जो लोग पशुपालन को घरेलू कामों से जोड़ते थे, जिनका अनुपात अधिक था, उनमें पशुपालन अभ्यासों को दो तरीकों से सीखा जाता था। पहला था प्राथमिक सामाजीकरण द्वारा जो परिवार और आस-पड़ोस में होता था। दूसरा था दूधियों, जो वे बिचौलिए थे जो दूध खरीद कर कस्बे के अंतिम उपभोक्ता को पहुंचाते थे, उनके साथ दैनिक अंतर्क्रिया। दूधिए कस्बे तथा बाजार के साथ वह महत्त्वपूर्ण संपर्क उपलब्ध करवाते थे। वे व्यावसायिक कौशल सिखाते थे, पैसे उधार देते थे, चारा आदि की व्यवस्था करते थे, आदि-इत्यादि।

स्कूल तथा पशुपालन

हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि स्कूल ऐसे ज्ञान और अभ्यास सिखाते हैं जिनका महत्त्व (या महत्त्व का अभाव) शेष समाज में संबंधित प्रक्रियाओं के वितरण के संदर्भ में परिभाषित होता है। स्कूलों का स्थान तथा वे क्या सिखाते हैं इसे उन सांस्कृतिक प्रणालियों के आलोक में जांचा जाना चाहिए, जिनका वे हिस्सा हैं। साथ-साथ सामाजिक ढांचे में चयन तथा भूमिका आवंटन में स्कूलों की भूमिका को भी देखा जाना चाहिए। यह बात फतेहाबाद तथा वहां पशुपालन के लिए भी सच है, फिर चाहे वह सीखना-सिखाना स्कूल में हो रहा हो या उसके बाहर। हमारे लिए जो ज्ञान और अभ्यास प्रासंगिक हैं वे दूध, उसके अर्थ, उसका विनिमय तथा स्वयं पशुओं से जुड़े हैं। हमारी रुचि खासकर यह जानने में थी कि पशुपालन तथा दूध उत्पादन के सामाजिक ढांचे बदल रहे हैं या नहीं बदल रहे हैं और इसका स्थानीय स्कूलों से क्या जुड़ाव है?

फतेहाबाद में स्कूलों को अपने-आपमें सद्गुण के रूप में नहीं देखा जाता था बल्कि उसे बाजार तथा राज्य की व्यापक दुनिया तक पहुंचने का माध्यम माना जाता था। जब हमने स्वयं को अकेले पशुपालन के क्षेत्र तक सीमित किया तो पाया कि यहां अर्थों को सीखना तथा भूमिकाओं का आवंटन महत्त्वपूर्ण तरीकों से नियोजित है। एक बात जो सामान्यतः दिखाई दी वह यह थी कि लड़कों को जल्दी ही घरेलू काम से निकाल स्कूली शिक्षा पर ध्यान देने की ओर धकेला जाता है। पशुओं को चराने की भूमिका लड़कियों और गरीब तबके के बच्चों को आवंटित की जाती थी जो अधिकांशतः दलित थे।

हरियाणा के स्कूलों में कृषि के पाठ्यक्रम अंग्रेजों के जमाने से पढ़ाए जाते रहे हैं। जिस समय यह अध्ययन किया गया, पशुपालन का पाठ्यक्रम कक्षा 9 तथा 10 में वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा था जिसे 'पशु विज्ञान' कहा जाता था (जो दरअसल त्रुटिपूर्ण था)। पहली नजर में यह स्थानीय अर्थव्यवस्था तथा उसके अवसरों के साथ पूरी तरह मेल खाता प्रतीत होता था। पर वहां दरअसल क्या हो रहा था यह समझने के लिए हमें स्कूलों की मौजूदगी कहां-कहां थी तथा उनकी पहुंच कितनी व्यापक थी इसे देखना-समझना होगा। हरेक गांव में एक सरकारी प्राथमिक शाला थी, हालांकि ढाणियों में या छोटी बसावटों/चकों में वे अमूमन नदारद थे। इधर निजी स्कूल हर जगह मौजूद थे और उनका अनुपात प्रति सरकारी स्कूल के लिए तीन या चार था। माध्यमिक शाला जो बच्चों को आठवीं की बोर्ड परीक्षा के लिए तैयार करती हैं, वे करीब दो तिहाई गांवों में थीं और उच्च माध्यमिक स्कूल करीब एक तिहाई गांवों में। मुझे शिक्षकों ने बताया कि जिस भी स्कूल में अगली कक्षा मौजूद नहीं थी वहां स्कूल छोड़ने का प्रतिशत तकरीबन 50 फीसदी था। इसका अर्थ यह था कि बालिकाएं और दलित जो प्राथमिक स्कूलों में भी सबसे पहले पढ़ाई छोड़ देते थे, उनकी माध्यमिक स्तर पर और भी छंटनी हो जाती थी; खासकर तब जब दूसरे गांव या कस्बे में जाकर पढ़ने का सवाल उठता।

पशुपालन का पाठ्यक्रम उच्च माध्यमिक स्कूल में (कक्षा 9 तथा 10 में) पढ़ाया जाता था, जिसके अंत में बोर्ड परीक्षा आयोजित होती थी। बड़ी संख्या में बच्चों के पढ़ाई छोड़ने के चलते जो छात्र इन कक्षाओं तक पहुंच रहे थे, वे उन

परिवारों के थे जो पहले ही एक खास किस्म के जीवन पथ की उम्मीद के प्रति कटिबद्ध थे। जो स्कूल छोड़ देते थे वे अपनी आजीविका पारिवारिक जमीनों में काम करके या कस्बे के गैराजों में प्रशिक्षुओं के रूप में जुड़कर या फिर दूसरों के खेतों में मजदूरी करके तलाशते थे। अर्थात् यहां ही कई तरह के चयन तथा भूमिका आवंटन घटित जो रहे थे। एक बात जो दिखाई दी वह यह थी कि दलितों के बच्चे और बालिकाएं, जिन्हें बेहतर पशुपालन तकनीकें सीखने का फायदा सबसे ज्यादा होता, पशुपालन पाठ्यक्रम को पढ़ने की उनकी ही संभावना सबसे कम थी।

जो बच्चे 9 व 10 वर्ष तक स्कूलों में आते रहते थे वे जीवन में कुछ दूसरा तलाश रहे थे। उनके परिवार पढ़ाई को कस्बे तथा बाजार से जुड़ी सत्ता के संभावित पथ के रूप में देखते थे। यह संभव था कि उनमें से कुछ पढ़ाई में अच्छा प्रदर्शन करते और किसी प्रकार के शहरी रोजगार में अपनी पकड़ भी बना लेते। या कम से कम वे बाबुओं और सरकारी अधिकारियों की भाषा से परिचित हो सकते थे ताकि वे उस रहस्यमय, गुप्त वस्तु से निपटने के अधिक काबिल बने जिसे सरकारी आवेदन प्रपत्र कहा जाता है। फिर क्या आश्चर्य कि उच्च माध्यमिक स्कूल के अधिकांश छात्रों में पशु विज्ञान लोकप्रिय पाठ्यक्रम नहीं था। पशुपालन तथा कृषि से इस तरह विमुख होने की वृत्ति का संबंध दो विभिन्न भूमिका संकुलों के बीच की बुनियादी दरार से, फतेहाबाद में उनके सापेक्ष दर्जे तथा समाज में सांकेतिक सत्ता के वितरण से था। पशुपालन को कस्बाई लोगों ने बारंबार गंदा तथा और भी अर्थपूर्ण तरीके से गंवारू किस्म का काम कह परिभाषित किया। स्वयं स्कूलों का सांस्कृतिक माहौल भी शहरी था। उनमें उपलब्ध अन्य वैकल्पिक विषयों में अधिक भद्र विषय-संस्कृत तथा ललित कलाएं भी थीं और ज्यादातर छात्र इन्हें ही चुनते थे। 'पशु विज्ञान' को चुनना उसी दुनिया में वापस लौटने के समान था जिससे निकल पाने का जरिया स्कूल को माना जा रहा था। शिक्षक तक उसे पढ़ाना नहीं चाहते थे और चंद सालों में केवल दो ही स्कूल ऐसे बचे जहां यह पाठ्यक्रम उपलब्ध करवाया जा रहा था। ये बड़े सरकारी स्कूल थे जिनमें से एक कस्बे में और दूसरा एक बड़े गांव में था।

स्कूली पाठ्यपुस्तकें (राणा 1993, 1994) दो संस्कृतियों के बीच तनाव का एक दूसरा स्थान थीं। पाठ्यपुस्तकों के अधिकतर पाठक मानते थे कि वे शहरी और विश्वविद्यालयों के लोगों द्वारा लिखी जाती हैं। इन पाठ्यपुस्तकों में पशुपालन के प्रति एक भिन्न प्रकार का नजरिया अपनाया गया था जो उन अर्थों और अभ्यासों से बिल्कुल फर्क था जिसमें वे पले-बढ़े थे। उनमें सिखाई जा रही तकनीकें वे थीं जिनका संबंध कृषि विश्वविद्यालयों के ज्ञानों से था और स्थानीय अभ्यासों के प्रति उनका रुख निंदात्मक था। इसके अलावा अधिकतर पाठ इतने कठिन और घटिया तरीके से लिखे गए थे कि छात्रों को उन्हें समझने और आत्मसात करने में कठिनाई महसूस होती थी। रोचक यह रहा कि यह कठिनाई उनके आत्म-सम्मान को कतई नहीं घटाती थी। इस वैकल्पिक विषय को चुनने वाले अधिकतर छात्र ग्रामीण इलाकों से थे और वे स्थानीय अभ्यासों के प्रति कृषि विश्वविद्यालयों के विशेषज्ञों जैसे तिरस्कार को काफी पहले से ही आत्मसात कर चुके थे। हालांकि उनमें भी स्वयं को अपनी ग्रामीण जड़ों से दूर करने की वृत्ति थी, पर कोई उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश करे यह उन्हें नापसंद था। पाठ्यपुस्तक में जो कुछ लिखा था उसे मोटे तौर पर 'किताबी' ज्ञान माना जाता था और उसकी उपयोगिता रटने और परीक्षाओं में उगलने तक सीमित थी। मध्य किशोरावस्था के इन शिक्षार्थियों ने अब तक न केवल स्थानीय तकनीकें देखी थीं बल्कि स्वयं उनका अभ्यास भी किया था। उन्हें लगता था कि वे स्थानीय तकनीकें काफी कारगर हैं।

जब 'पशु विज्ञान' सिखाने वाला शिक्षक स्वयं एक दब्बू शहरी व्यक्ति होता, जैसा एक स्कूल में था भी, तो मसला और भी उलझ जाता था। यह शिक्षक स्कूल के प्राथमिकता क्रम में सबसे नीचे था और इसी कारण उसे यह विषय भी दिया गया था जिसे कोई दूसरा शिक्षक पढ़ाना नहीं चाहता था। उसने मुझे संकोच के साथ यह बताया कि सभी बच्चे उससे कहीं अधिक जानते थे और वह हर अकादमिक वर्ष की शुरुआत यह कहने के साथ करता था, ''देखो, मैं जानता हूं यह किताब तुम्हारे लिए खास काम की नहीं है, पर परीक्षाओं के लिए तुम्हें इसे रटना होगा''।

यह समझने के लिए कि इन स्कूली पाठ्यपुस्तकों से कुछ बदलाव कैसे आया होगा, मैंने कई ऐसे वयस्कों से बात की जिन्होंने अपने स्कूली दिनों में पशु विज्ञान पढ़ा था। मैंने उनसे खासतौर से यह पूछा कि उन्हें इन किताबों से क्या

याद है और उसकी विषयवस्तु का उन्होंने अगर कोई उपयोग किया, तो वह क्या था। कुछ, अलबत्ता, बहुत ही कम बातें उन्हें कई सालों बाद भी याद थीं। उनका मुख्य उत्तर यह था कि उन्हें किताबों ने कृत्रिम गर्भाधान की बारीकियां बताईं थीं। यह वह ज्ञान था जिसने उनके वयस्क बनने और अपने पारिवारिक पशुओं की देखभाल स्वयं संभालने के बाद उनके महत्त्वपूर्ण निर्णयों को दिशा दी। इस ज्ञान ने निश्चित रूप से स्थानीय पशुपालन अभ्यास में छोटे रूपान्तर में योगदान दिया था।

परन्तु स्कूली शिक्षण का प्रभाव पशु संबंधी ज्ञानों तक सीमित नहीं था। स्कूल इन शिक्षार्थियों को कुछ दूसरे महत्त्वपूर्ण पाठ भी पढ़ा रहे थे। एक बुनियादी बात, जो स्कूली शिक्षा के लगभग सभी पक्षों में समान थी, वह थी संस्थाओं के मानकों में आस्था का अभाव। अधिकांश छात्रों की नजर में स्कूल की वैधता कम थी और उसे ऐसी वस्तु माना जाता था जिसे जीवन में आगे बढ़ने के लिए जैसे-तैसे झेलना जरूरी था। स्कूल की संस्थागत उग्रता को वे खोखला और निस्सार मानते थे। उनके स्कूली प्रमाण-पत्रों के कारण बहुत कम लोगों को नौकरियां मिली थीं। अतः युवा इसका यह निष्कर्ष निकालते थे कि व्यक्ति को नवाचार और जोड़-तोड़ कर खुद यह तय करना होता है कि कारगर क्या रहेगा। व्यक्ति को विवेकहीन और निष्ठुर व्यवस्था को संचालित करना सीखना पड़ता है। जिस नकारात्मकता और अवसरवादिता को इन छात्रों ने सीखा वह ऐसा महत्त्वपूर्ण घटक था जो इस बात को प्रभावित करता है कि शेष जीवन में वे उस समय क्या नजरिया अपनाएंगे जब उन्हें कस्बे और बाजार से अधिकाधिक संपर्क-संवाद करना होगा। यही वह दुनिया थी जिससे स्कूल को जुड़ा हुआ माना जाता था। यह एक और बात थी जिसे स्कूल सिखाते थे - इन स्थानों की शक्ति। यह सीख बारंबार पुष्ट होती थी। और उन्हें यह कभी भूलने नहीं दिया जाता कि उनकी ग्रामीण जड़ें उन पर निकृष्ट और असभ्य इंसान होने का ठप्पा लगा चुकी हैं।

जब ग्रामीण पृष्ठभूमियों से आए छात्र कस्बों-शहरों में मध्यवर्गीय काम की तलाश को अंततः त्यागते और अपने खेतों को लौट आते, अपने पैतृक काम को देखने के उनके तरीकों में सूक्ष्म पर अर्थपूर्ण परिवर्तन नजर आता। खेतीबारी और पशुपालन का उनका नजरिया उनके पिताओं से गुणात्मक रूप से भिन्न होता, पर ठीक उस तरह नहीं जैसी मंशा पाठ्यपुस्तकों की थी। पढ़े-लिखे ग्रामीण एक खास प्रतिष्ठित समूह बनाते जो शेष गांव से दूरी बनाए रखने को आतुर हो, हरेक अवसर के प्रति खुलापन बरतता हो और परंपरागत मानदण्डों और मूल्यों का तिरस्कार करता हो।

फतेहाबाद में पशुपालन सीखने के इस संक्षिप्त चित्रण के बाद हम पुनः उसी प्रश्न पर लौटते हैं कि यहां हो क्या रहा है, क्या कुछ बदल भी रहा है? या फिर संस्कृति तथा अर्थव्यवस्था को जस का तस पुनरुत्पादित किया जा रहा है? हालांकि कई विषय-प्रसंगों तथा रुझानों की पुष्टि हो रही थी और उनको फिर से उत्पादित किया जा रहा था, फिर भी असमानता के पुनरुत्पादन की जो धारणा हमें उपलब्ध करवाई जा रही है उससे बनी छवि अधूरी प्रतीत होती है। कई गहरी प्रवृत्तियां भी बदल रही थीं। पर इस अधिक व्यापक छवि की कल्पना हम कैसे करें?

ढांचा तथा कर्तृत्व (एजेंसी)

हालिया सालों में इस प्रश्न को सैद्धान्तिक स्तर पर जांचने के कई तरीके उस लेखन ने सुझाए हैं, जो ढांचे तथा एजेंसी के इर्द-गिर्द हुआ है। उनमें विकसित कुछ विचार तथा परिप्रेक्ष्य असमानता के पुनरुत्पादन के सवाल पर बेहतर पकड़ बनाने में मदद करते हैं। ढांचा तथा कर्तृत्व के विषय-प्रसंग समाज को देखने के दो परस्पर विरोधी तरीके हैं और साथ ही सामाजिक असमानता के दो पृथक स्थल भी पेश करते हैं। प्रतीकात्मक अंतःक्रियावादी (सिम्बॉलिक इन्टरएक्शनिस्ट) तथा घटना-क्रिया विज्ञानात्मक समाजशास्त्रियों (फिनॉमिनो-लॉजिकल सोश्योलोजिस्ट) के काम में एजेंसी के विषय-प्रसंग को बारीकी से जांचा गया है। इन्होंने ही सभी सामाजिक अंतर्क्रियाओं की धारा प्रवाहिकता को उभारा। उन्होंने दर्शाया कि विभिन्न कर्ता जिन अर्थों को मानते थे, उनमें लगातार लेन-देन होता रहता है और रोजमर्रा के जीवन में सभी संबंध निर्मित तथा पुनर्निर्मित होते हैं। शिक्षा में जिसे 'विरोध' कहा जाता है उसे रेखांकित करने के लिए जो आनुभविक अध्ययन किए गए उनमें से कई में इस प्रकार का सैद्धान्तिक तथा विधि संबंधी अभिमुखीकरण था। इन अध्ययनों

ने मानव के कर्तृत्व तथा उसकी सभी संभावनाओं पर बल दिया। इनके पैने विरोध में वे अध्ययन थे जो 'ढांचों' की बात करते थे, प्रारंभ में संरचनात्मक प्रकार्यवादियों (स्ट्रक्चरल फंक्शनलिस्ट्स) के अर्थ में और बाद में, अक्सर फ्रांसीसी संरचनावादियों के अर्थ में जिनका झुकाव 'लॉन्ग ड्युरे' या संरचनाओं का लम्बे अर्से तक अध्ययन करने की ओर था। उनका मानना था कि ढांचों में एक गहरी जड़ता होती है, जिसे हिलाना लगभग असंभव होता है। व्यक्तिगत कर्म उन पर खास प्रभाव नहीं डाल पाता और अमूमन उसी ढांचे के पुनरुत्पादन को ही पुष्ट करता है। माना जाता था कि परवर्ती औद्योगिक पूंजीवाद भी स्वयं को विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से पुनरुत्पादित करता है। इन प्रक्रियाओं में प्रमुख थी शिक्षा प्रणाली। मानवीय मसलों पर इन दो परस्पर विरोधी दृष्टियों में से कौन-सी दृष्टि सही थी?

एन्थनी गिडेन्स उन प्रमुख सिद्धान्तकारों में से एक थे, जिन्होंने इन दो विषय-प्रसंगों - ढांचा तथा कर्तृत्व के बीच खाई को पाटकर उन्हें समेकित करने की कोशिश की जो आगे चलकर 'स्ट ्रक्चरेशन थ्योरी' कहलाई, यह संरचना प्रणाली की धारणा तथा ढांचों के द्वैत पर आधारित थी। गिडेन्स ने विभिन्न समूहों के बीच के सामाजिक संबंधों के लिए 'प्रणाली' शब्द का उपयोग किया। कुछ उस तरह जैसे संरचनात्मक प्रकार्यवादियों ने किया था और संरचना की धारणा को उस गहन आधारभूत कूटों के समतुल्य रखा जिसकी चर्चा बेसिल बर्नस्टाइन व कुछ संरचनावादी करते प्रतीत हुए थे। गिडेन्स फ्रांसीसी संरचनावादियों से इस अर्थ में भिन्न थे कि संरचना के प्रति उनका नजरिया खुलापन लिए था। वे ढांचों को गत्यात्मकता से गठित सिद्धान्तों, नियमों व संबंधों के रूप में देखते थे। ये सभी वे निरंतर निर्मित, पुनर्गठित तथा विघटित होते रहते थे। गिडेन्स के लिए कर्तृत्व में तमाम सूक्ष्म क्रियाएं शामिल थीं जो जीवन के व्यापक बनावटें निर्मित करने में लगाई जाती हैं। प्रत्येक कर्म कुछ ढांचों को संबलित करता और कुछ दूसरों को चुनौती देता है। सभी समाज अपनी प्रक्रियाओं के सभी स्वरों पर प्रतिबंधित होते हैं। अतः गिडेन्स का तर्क था कि केवल ढांचों की बात करने के बदले स्ट्रक्चरेशन की धारणा की चर्चा करना अधिक उपयोगी होगा।

(गिडेन्स 1984)

आर्चर (1996), एक अन्य ब्रितानी समाजशास्त्री इस समझ में विचारों की एक और महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ती हैं। डेविड लॉकवुड के सामाजिक एकीकरण तथा प्रणाली एकीकरण संबंधी शास्त्रीय आलेख (लॉकवुड 1964) से ग्रहण करते हुए वे विश्लेषणात्मक द्वैत के महत्त्व की ओर संकेत करती हैं। गिडेन्स द्वारा समाज का जो परावर्तात्मक (रिफ्लेक्सिव) मॉडल विकसित किया गया था, उसमें वे प्रक्रियाएं बहुत स्पष्ट नहीं हो पाईं थीं जिनके मार्फत यह परावर्तात्मक (रिफ्लेक्सिव) काम करती है। आर्चर ने लॉकवुड द्वारा प्रस्तावित विश्लेषणात्मक तथा अवधारणात्मक पार्थक्य को माना, जो वास्तविक लोगों तथा वास्तविक समूहों के कर्मों को उनकी अंतर्क्रियाओं के प्रणालीगत विशेषताओं के बीच होता है। ऐसा करने से वे पुनरुत्पादन विरोध के द्वैत में उलझे बिना सांस्कृतिक गत्यात्मकता की चर्चा कर पाईं। वे कर्म को संभव समाज के आकृतिमूलक स्वरूपों (मॉफॉलोजीस) पर विस्तार की ऐसी संभावनाओं की दिशा में ले जाने वाला मानती हैं, जो नितांत आवश्यक न हों। अगर ये स्वरूप दरअसल बदलते हैं तो संभव है कि उनके फलस्वरूप कर्म का संदर्भ भी बदले, जो तब कर्म की भिन्न संभावनाओं की दिशा में ले जाए। अतः व्यक्तिगत कर्म से या तो संरचना जड़ता (मॉर्फोस्टैसिस) उभर सकता है या फिर उत्पत्ति संरचना (मॉर्फोजेनेसिस)। अंततः समाज तथा उसकी संस्कृति में स्थिरता (स्टैसिस) आ सकती है या फिर आकारों में विस्तार भी हो सकती है।

फतेहाबाद में पुनरुत्पादन तथा बदलाव

ढांचे, कर्तृत्व तथा परावर्तकता पर जिन विभिन्न परिप्रेक्ष्यों की चर्चा की गई, वे हमें शिक्षा समाज में जो करती है उसे देखने में पुनरुत्पादन से परे जाकर मदद करते हैं।[5] जब हम इन अवधारणात्मक चश्मों को लगाकर फतेहाबाद को देखते हैं तो हमें असमानता के पुनरुत्पादन की कोरी धारणा से आगे अधिक समृद्ध बनावटें नजर आती हैं।

परिवार के अंदर तथा जिन स्कूलों में पशु विज्ञान उपलब्ध था वहां सीखने की एक शृंखला चल रही थी, जिसमें से कुछ परंपरागत अभ्यासों तथा ज्ञानों को संबलित करते थे, तो कुछ उनसे दूर ले जाते थे। जो धाराएं दूर ले जा रही

थीं उनमें से कई को एक प्रतिद्वन्द्वी संस्कृति कहा जा सकता है जिसके अपने खास मानक, भूमिकाएं तथा ढांचे हों। हालांकि यह कहते समय हमें संस्कृतियों के प्रति रूढ़िबद्ध नजरिया अपनाने से बचना होगा। इस प्रतिद्वंद्वी संस्कृति के केंद्र में लालफीताशाही में जकड़ा शासन तथा जिंसों के आदान-प्रदान पर आधारित व्यवसाय था। परन्तु स्कूलों की कई सीखें किसी भी खास दिशा में ले जाती प्रतीत नहीं होती थीं, उनकी वैधता या उपयोग के अवसर भी बहुत ही कम थे। जो सामाजीकरण तथा भूमिका आवंटन हो रहा था वह समाज के क्षय तथा संरचना-जड़ता (मॉर्फोस्टेसिस) में योगदान देने के साथ-साथ संरचना-विकास (मॉर्फोजेनेसिस) में भी योगदान कर रहा था। एक नए संस्थागत खिलाड़ी, एक नए प्रतिष्ठा समूह को तरजीह मिल रही थी, जिसके अस्तित्व ने समाज के विन्यास को बदल डाला था। यह नया प्रतिष्ठा समूह पढ़े-लिखे ग्रामीणों का था, जो गांव की गत्यात्मकता को बदल रहा था। यह संभव था कि यह नया प्रतिष्ठा समूह अंततः खेल के बुनियादी नियमों को भी बदल डाले।

यहां शिक्षा पुराने सामाजिक ढांचे में कई प्रकार की असंगतियों की दिशा में भी ले जा रही थी और जो सामाजीकरण हो रहा था वह लोगों को परिवार तथा गांव में उनकी परंपरागत भूमिकाओं के लिए अनुपयुक्त बनाता प्रतीत होता था। यह ऐसे मानकों को प्रोत्साहित कर रहा था जो उन्हें पुराने तौर-तरीकों से बेमेल बना रहा था। यह उन्हें ऐसे कौशल तथा अभिमुखीकरण दे रहा था। (उदाहरण के लिए, अवसरवादिता तथा परंपरागत सत्ता के प्रति तिरस्कार) जो उनके गांव छोड़ शहरी तथा व्यावसायीकृत स्थानों पर चले जाने के अनुकूल हो। यहां कम से कम दो भिन्न प्रकार के जीवन और भूमिकाएं नजर आने लगी थीं : एक जिनका अभिमुखीकरण गैर-व्यावसायिक आदान-प्रदानों की ओर हो (गांवों में इनका केंद्रीकरण अधिक था) और दूसरे जिनका अभिमुखीकरण व्यावसायिक आदान-प्रदानों की ओर हो (गांव तथा कस्बे दोनों में, हालांकि कस्बे में इनका केंद्रीकरण अधिक था)। फतेहाबाद में स्कूली शिक्षा का रुझान लोगों को इस दूसरी दिशा में ले जा रहा था।

हम दो प्रकार के सामाजिक केंद्रों की तुलना दूध तथा उसके उत्पादों के वितरण के प्रकारों तथा उनके अर्थों के माध्यम से कर सकते हैं। अर्थात् एक ओर सामान्यीकृत पास्परिकता तथा दूसरी ओर व्यावसायिक आदान-प्रदान की तुलना द्वारा। गौर करना चाहिए कि यहां भी स्कूल कई दूसरी चीजों के घटने की दिशा में भी ले जा सकते थे। अवधारणाओं की स्थानीय शृंखला समृद्ध हो सकती थी (यहां भी कुछ नए विचार अवश्य उभरे थे), नए कौशल सिखाए जा सकते थे (पर जो लगभग नामौजूद थे) आदि-आदि। परन्तु जो प्रमुख चीज उभरी वह स्कूल के अप्रत्यक्ष प्रभाव से उभरी थी; आप चाहें तो इसे गुप्त पाठ्यचर्या कह सकते हैं और यह थी व्यावसायीकरण की बुनियादी प्रक्रिया को सीखना।

संरचना तथा कर्म के ऐसे खुले परिप्रेक्ष्य को 'असमानता के पुनरुत्पादन' जैसे सामान्यीकरण तक नहीं उतारा जा सकता है। यह संभव है कि जब परिवर्तन संपूर्ण हो जाए जैसा परिपक्व औद्योगिक समाजों में हुआ है, हम उसे असमानता का पुनरुत्पादन कह सकें। यह संभव है ऐसे समाज जब स्थिरता को पा लें और उनकी सत्ता संरचना के समक्ष कोई प्रमुख चुनौती न हो और उनमें कोई नए विकास नजर न आता हो। पर अगर महज पुनरुत्पादन ही हो रहा है तो इतिहास का समापन भी हो चुका है। सौभाग्य से अन्य प्रक्रियाएं अब भी काम करती नजर आ रही थीं।

निष्कर्ष में, उपरोक्त चर्चा सुझाती है कि हमें एक ऐसी दृष्टि की जरूरत है जो समाज की ठोस भूमिकाओं, समूहों तथा प्रक्रियाओं के एक व्यापक दृश्य का संक्षेपण कर सके। केवल तब ही हम इस प्रश्न को संबोधित कर सकेंगे कि शिक्षा से कोई फर्क पड़ भी रहा है या नहीं। शिक्षा क्या कर रही है इसकी एक वास्तविक तथा जमीनी जांच द्वारा ही हम समाज पर उसके प्रभाव को जान सकते हैं। प्रारंभिक प्रश्न वे ही बने हुए हैं जिनका खुलासा पार्सन्स ने किया था : विभिन्न सामाजीकरण तथा भूमिकाओं के आवंटन क्या हैं? हमें केवल यह करना है कि हम पहले से ही यह न मान लें कि भूमिकाओं या समूहों के कुछ विशेष प्रकार मौजूद होते हैं और वे ही हावी रहते हैं। यह दरअसल एक अर्थ में एक खास अधि-आख्यान (मैटा-नैरेटिव) पर प्रश्न उठाना ही है। पर यह उत्तर आधुनिक अनिश्चितता तथा सभी संभव

अधि-आख्यानों पर सवाल करने में विघटित होना नहीं है। यह अनेकानेक बड़े पैमाने पर घट रही प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करना और उनके अस्तित्व, उनके निहितार्थ तथा वे जो मुक्दिायक संभावनाएं रचते हैं उन्हें जांचने की मांग करना है।

पुनरुत्पादन सिद्धान्तकारों के काम में जो प्रमुख संस्कृतियां तथा सामाजिक निर्मितियों की जो समीक्षा मिलती है उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है बहुल प्रक्रियाओं को समझने की क्षमता का खुलना। साथ ही उस समीक्षा को हमारी भारतीय परिस्थितियों पर लागू करना। उदाहरण के लिए, पिएरे बोर्दूयू एक ऐसे समाज में लिख रहे थे जिसमें खास किस्म का औद्योगिक पूंजीवाद प्रमुख स्थान पर था। वहां जो विरोध नजर आए वे उतने विविध नहीं रहे होंगे जितने वे जिनसे हमें संघर्ष करना होगा। हमारा संदर्भ महत्त्वपूर्ण अर्थों में भिन्न है जहां सामन्तवादी अवशेष व औद्योगीकरण के विभिन्न स्वरूप, स्थान तथा प्रभुत्व के लिए धक्का-मुक्की कर रहे हैं। प्रणालियों का यही वैविध्य ही उम्मीद का स्थान रचता है और जिसे समझने की जरूरत है ताकि हम मौजूदा हस्तक्षेपों का आकलन कर अधिक उपयुक्त हस्तक्षेपों को गढ़ सकें। ◆

टिप्पणियां :

1. उदाहरण के लिए, उनके इन शब्दों को ही लें : 'परन्तु अनुभव ने दर्शाया है कि वर्तमान शिक्षा का आकर्षण, हालांकि वह गलत और अस्वाभाविक है, देश के युवा वर्ग के लिए अत्यधिक है। कॉलेज शिक्षा करियर उपलब्ध करवाती है। वह एक मनोहारी वृत्त में प्रवेश का पासपोर्ट है' (गांधी 1991:25)।

2. मैंने इसे अपने पीएचडी के शोध-प्रबंध के तौर पर प्रस्तुत किया था। मैं अविजित पाठक का आभारी हूं जिनके सहयोग तथा प्रेरणा ने इसे आकार दिया। इस शोध में जो कमियां तथा त्रुटियां रहीं वे मुख्यतः मेरे ही दुराग्रह के कारण थीं।

3. अखिल भारतीय लोक विज्ञान नेटवर्क के दिनेश अबरोल तथा उपेन्द्र त्रिवेदी ने मुझे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के बारे में और उनमें नेटवर्क किस प्रकार संचालित होते हैं इस बारे में बहुत कुछ सिखाया।

4. फतेहाबाद उस समय हिसार जिले का हिस्सा था जो देश भर में अपने दुधारू पशुओं की गुणवत्ता के लिए मशहूर था। हिसार जिले में फतेहाबाद कृषि तकनीकों के उपयोग में सबसे अधिक प्रगतिशील व नवाचारी इलाका कहलाता था।

5. यही पिएरे बोर्दूयू का हैबिट्स तथा रिफ्लेक्सिविटी पर लेखन भी करता, अगर शिक्षा पर उनका काम मुख्यतः इस उदारवादी विचार के खण्डन के प्रति लक्षित न होता कि परंपरागत शिक्षा अधिक समानता की दिशा में ले जा सकती है। परन्तु यह चर्चा इस आलेख की सीमा से परे है।

(यह लेख ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, इण्डिया से 2013 में प्रकाशित एवं गीता बी. नाम्बिसान एवं एस. श्रीनिवास राव द्वारा संपादित पुस्तक 'सोश्यॉलॉजी ऑफ एज्युकेशन इन इण्डिया' से लेखक की सहमति से अनुदित एवं प्रकाशित है।)